

गंगा का जीवन

गंगा का पानी प्रदूषित होने के मसले पर जब से चिंताएं सामने आने लगीं, तब से अब तक उसे प्रदूषण मुक्त बनाने के नाम पर हजारों करोड़ रुपए बहा दिए गए हैं। लेकिन पिछले तीन दशक से ज्यादा समय से यह क्रम लगातार जारी रहने के बाद भी हालत यह है कि कुछ अंतराल के बाद इस समस्या के और ज्यादा गहराने की ही खबरें आती रहती हैं। गंगा की न केवल सफाई का सवाल आज भी मुंह बाए खड़ा है, बल्कि उसके लिए बहाए जाने वाले इतने पैसे कहां और कैसे खर्च किए गए और उसका क्या नतीजा सामने आया, इसके बारे में शायद कोई हिसाब भी नहीं है। अंदाजा इसी से लगाया जा सकता है कि आज भी केंद्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड (सीपीसीबी) को इस मसले पर निर्देश जारी करने पड़ रहे हैं। शुक्रवार को गंगा में अपशिष्ट और औद्योगिक कचरा प्रवाहित होने पर कड़ा संज्ञान लेते हुए सीपीसीबी ने चार राज्यों के प्रदूषण बोर्डों को निर्देश दिया है कि वे पर्यावरणीय मानदंडों का पालन नहीं करने वाली इकाइयों के खिलाफ सख्त कार्रवाई करें और जरूरत पड़ने पर उन्हें बंद भी करें। सीपीसीबी ने उत्तराखंड, उत्तर प्रदेश, पश्चिम बंगाल और बिहार के प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड के अध्यक्षों को पंद्रह दिनों के भीतर निरीक्षण की रिपोर्ट पेश करने को कहा है।

जाहिर है, गंगा को स्वच्छ बनाने के मकसद से शुरू की गई ‘नमामि गंगे’ से लेकर अतीत की तमाम योजनाओं का हासिल अब भी यही है कि इस नदी में प्रदूषण फैलाने वालों पर पूरी तरह काबू नहीं पाया जा सका है। सवाल है कि जिस नदी को देश के जनजीवन और पर्यावरण के लिए इतना जरूरी घोषित किया गया है, उसे स्वच्छ रखने के प्रति समाज से लेकर सरकारी महकमों तक की लापरवाही को निर्बाध क्यों छोड़ दिया गया था! बुरी तरह प्रदूषित हो गई गंगा की सफाई के लिए चलाए गए अभियानों की हकीकत भी तब सामने आती रहती है, जब सुप्रीम कोर्ट की ओर से सरकार को फटकार लगाई जाती है या फिर प्रदूषण नियंत्रण एजेंसियां राज्य सरकारों को इस दिशा में ठोस कदम उठाने का निर्देश देती हैं। आखिर किन वजहों से आज भी शहरों के नालों के जरिए अपशिष्ट बहाए जाते हैं या फिर औद्योगिक इकाइयों को गंगा में कचरा प्रवाहित करने की अधोषित छूट मिली हुई है? क्या इस स्थिति के बने रहते हुए यह उम्मीद की जा सकती है कि गंगा का पानी प्रदूषित होते जाने को रोक़ा जा सकेगा?

खुद सीपीसीबी के हाल के एक अध्ययन के मुताबिक उत्तर प्रदेश से लेकर पश्चिम बंगाल तक गिनती की कुछ जगहों को छोड़ दिया जाए तो गंगा नदी का पानी पीने लायक तो दूर, नहाने लायक भी नहीं रह गया है। नदी में ‘कोलोफॉर्म’ जीवाणु का स्तर इतना बढ़ गया है कि वह मनुष्य की सेहत के लिए खतरनाक साबित हो सकता है। यह हालत तब है जब गंगा की सफाई पर पहले की योजनाओं में खर्च राशि के बाद 2014 से 2018 तक इसी मद में साढ़े पांच हजार करोड़ रुपए से ज्यादा की रकम जारी की गई और उसमें लगभग चार हजार करोड़ रुपए खर्च किए जा चुके हैं। इस मसले पर राष्ट्रीय हरित पंचाट से लेकर अलग-अलग अदालतों ने समय-समय पर सरकार और संबंधित महकमों की लापरवाही पर सवाल उठाया है। लेकिन यह सवालना मुश्किल है कि जिस गंगा की शुद्धता और पवित्रता के हवाले से राजनीति भी की जाती रही है, उसे स्वच्छ बनाने के तमाम अभियानों की हकीकत इस कदर अफसोसनाक क्यों है! गंगा को स्वच्छ बनाने का दम भरने वाली सरकारों के दावों के बरखस उनकी इच्छाशक्ति इतनी कमजोर क्यों दिखती है!

सेवा और सवाल

अगर जनता को बिजली, पानी, चिकित्सा और शिक्षा जैसी बुनियादी सेवाएं मुफ्त में मिलने लंगं तो उसके लिए राहत और खुशी की इससे बड़ी क्या बात हो सकती है! एक कल्याणकारी राज्य और उसमें सरकार को यह जिम्मेदारी भी बनती है कि वह अपने नागरिकों को बुनियादी जरूरत वाली चीजों और सेवाओं को निशुल्क या मामूली दाम पर उपलब्ध कराए। वरना कल्याणकारी सरकार होने का मतलब ही क्या रह जाता है! ऐसे में अगर कोई सरकार इस दिशा में पहल करती है तो क्यों नहीं उसका स्वागत होना चाहिए, भले यह चुनावी पैंतरा ही क्यों न हो! ऐसा ही करिश्मा दिल्ली की अरविंद केजरीवाल सरकार ने किया है। दिल्ली सरकार ने एक बड़ा फैसला करते हुए दो सौ यूनिट तक खपत पर बिजली बिल माफ कर दिया है। यानी दो सौ यूनिट बिजली दिल्ली सरकार मुफ्त देगी। यह फैसला तत्काल प्रभाव से लागू कर दिया गया है। इससे पहले दिल्ली सरकार ने पिछले साल बीस हजार लीटर पानी मुफ्त देने की पहल की थी, जिस पर बाद में दिल्ली हाईकोर्ट ने सवाल उठाए थे।

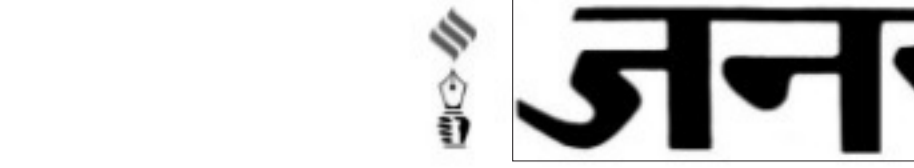
दिल्ली सरकार ने दो सौ यूनिट बिजली तो मुफ्त देने का एलान किया है। इसके अलावा, दो सौ से चार सौ यूनिट तक खर्च करने वालों को बिल में पचास फीसद की सबसिडी मिलेगी। यानी आधा खर्च सरकारी पैसे से भरा जाएगा। इससे दिल्ली सरकार पर छह सौ करोड़ रुपए सालाना का बोझ पड़ेगा। सरकार का दावा है कि दो सौ यूनिट तक मुफ्त बिजली के फैसले से तैंतीस लाख लोगों को फायदा होगा। एक मोटे अनुमान के मुताबिक पैंतीस फीसद उपभोक्ता ऐसे हैं जो दो सौ यूनिट से भी कम बिजली खर्च करते हैं। इनमें समाज के कमजोर और गरीब तबके के परिवार ही हैं। ऐसे में दिल्ली की आबादी के एक बड़े हिस्से के लिए केजरीवाल सरकार का यह कदम राहत भरा है। मुफ्त बिजली-पानी के लिए मुख्यमंत्री हमेशा से यह तर्क भी देते आए हैं कि जब देश के नेताओं, मंत्रियों, सांसदों, विधायकों के लिए बिजली मुफ्त हो सकती है तो गरीब जनता के लिए क्यों नहीं!

इसमें कोई दो राय नहीं कि दो सौ यूनिट मुफ्त बिजली दिल्ली सरकार का विशुद्ध रूप से चुनावी कदम है। सरकार अगर गरीबों को वाकई राहत देना चाहती थी तो पिछले चार साल में उसने यह फैसला क्यों नहीं किया? अब चुनाव करीब आते ही सरकार को गरीबों का खयाल आया है। दिल्ली की चुनावी राजनीति में बिजली बड़ा मुद्दा रहा है। आम आदमी पार्टी ने 2013 से ही बिजली के बढ़े दामों को मुद्दा बनाया था और इसे लेकर अरविंद केजरीवाल ने पंद्रह दिन का अनशन भी किया था। इस मुद्दे ने आम आदमी पार्टी को भारी बहुमत दिलाने में बड़ी भूमिका निभाई। उनकी पार्टी ने राजधानी की जनता से वादा भी किया था कि सत्ता में आते ही सस्ती बिजली दी जाएगी। दिल्ली से सटे राज्यों हरियाणा और उत्तर प्रदेश में बिजली काफी महंगी है। दो सौ यूनिट तक के लिए गुड़गांव में नौ सौ रुपए से ज्यादा और नोएडा में तेरह सौ रुपए चुकाने पड़ने हैं। हालांकि चुनाव से ठीक पहले जनता को अपने पक्ष में करने के मकसद से सरकारें ऐसे कदम उठाती रही हैं, दिल्ली सरकार ने इससे पहले मेट्रो में महिलाओं के लिए मुफ्त यात्रा का कार्ड चला था, लेकिन इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिए कि मुफ्त की सेवाएं और सुविधाएं सिर्फ जरूरतमंदों को मिलें। ऐसे खर्चों का बोझ अंतिम तौर पर सरकारी खजाने पर पड़ता है और उसका खमियाजा अलग शक्ल में आम जनता को ही उठाना पड़ता है।

कल्पमेधा

आप हर इंसान का चरित्र बता सकते हैं, यदि आप देखें कि वह प्रशंसा से कैसा प्रभावित होता है।

-सेनेका



मनीषा सिंह

बदलती सामाजिक व्यवस्था के कारण और घरों के सिकुड़ने से जहां परिवार छोटे हुए हैं, वहीं परिवारों में बुजुर्गों की भूमिका भी कम हुई है। पहले बुजुर्ग परिवार का महत्वपूर्ण अंग होते थे। नई पीढ़ी उनसे सामाजिक मूल्यों की विरासत का पाठ पढ़ती-सीखती थी। लेकिन अब बच्चे मोबाइल या टीवी में उलझे रहते हैं। उनके पास बुजुर्गों से बात करने का समय नहीं होता। बड़े शहरों में परिवार चलाने के लिए अगर पति-पत्नी दोनों कामकाजी होते हैं, तो घर के बुजुर्गों से बात किए हफ्तों भी बीत जाते हैं।

बढ़ती आबादी समस्या है या इसे मानव पूंजी अथवा संसाधन के रूप में देखा जाए, इस बहस का जवाब शायद ही कभी मिले। यह बहस खासतौर से इसलिए उठी है कि आबादी से जुड़ी जो गंभीर समस्याएं सामने आ रही हैं, उनका कोई युक्तिसंगत समाधान फिलहाल विशेषज्ञों को भी नहीं सूझ रहा है। कुछ समय पहले संयुक्त राष्ट्र के जनसांख्यिकी विशेषज्ञों ने सामाजिक परिप्रेक्ष्य में एक चेतावनी बूझी होती आबादी को लेकर दी है। संयुक्त राष्ट्र की इस रिपोर्ट में तुलनात्मक आंकड़े देकर बताया गया है कि दुनिया में यह पहला अवसर है जब बूढ़े लोगों की आबादी पांच साल से कम उम्र के बच्चों के मुकाबले ज्यादा हो गई है। इस आंकड़े के अनुसार वर्ष 2018 के अंत में पैंसठ साल से ज्यादा उम्र के बुजुर्गों की आबादी सत्तर करोड़ से ज्यादा थी, जबकि चार साल के बच्चों की तादाद अड़सठ करोड़ है। मोटे तौर पर कह सकते हैं कि दुनिया एक ऐसे मुहाने पर है जहां

अतुल चतुर्वेदी

कबी कालिदास ने एक पूरा काव्य ‘मेघदूत’ प्रकृति को आलंबन बना कर समर्पित कर दिया था और उनकी पीड़ा को स्वर देते हुए मोहन राकेश ने ‘आषाढ़ का एक दिन’ जैसे कालजयी नाटक की रचना की। लेकिन क्या आज हमारे साहित्य और दैनिक जीवन में प्रकृति की यह मौजूदगी उतनी ही शिदत से महसूस की जा रही है? क्या हमारे आज के जीवन और प्रकृति का यह रिश्ता उतना ही मजबूत रह गया है? रीतिकालीन कविता को लेकर हम कितना भी नाक-भौं सिकोड़ लें, लेकिन सेनापति, देव और यहां तक कि मतिराम में भी प्रकृति के दर्शन सुलभ हो ही जाते हैं। छायावादी कवियों की रचनाओं में जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानंदन पंत, महादेवी वर्मा और सूर्यकांत त्रिपाठी निराला की रचनाओं में भी वर्षा ऋतु, सावन के मेघ आदि का वर्णन प्रचुरता में मिलता है। पंत की कविता-‘झम-झम झम-झम मेघ बरसते हैं सावन के, छम-छम छम गिरती बूंदें तरुओं से छन के’ न केवल ध्वनि बिंब खड़े करती है, बल्कि चाक्षुष बिंबों के माध्यम से मन में सावन का आनंद और ताजगी उत्पन्न कर देती है।

निराला की ‘बादल राग’ कविता से कौन परिचित नहीं होगा। बादल के माध्यम से नए क्रांति के स्वर फूंकने और

संकट के बादल

पश्चिम राजस्थान सहित प्रदेश के कई भागों को अब तक अच्छी बारिश का इंतजार है। यहां सूखी धरती भीगी जरूर है, लेकिन उसकी प्यास अभी अधूरी है। बरसात के इंतजार में किसानों के माथे पर बल पड़ गए हैं। पशुपालक चिंता में डूबे हुए हैं लेकिन सबसे अहम समस्या है कि बरसात के मौसम में भी पानी संकट बना हुआ है। भरपूर बारिश से सभी समस्याओं का एक साथ समाधान संभव है, लेकिन यह सब भगवान भरोसे है। कुल मिलाकर सौ मर्ज की एक दवा बरसात है।

जून माह से किसान और पशुपालक भरपूर बरसात की राह देख रहे हैं। अब जुलाई महीना भी बीत गया है लेकिन तरबतर करने वाली बारिश का इंतजार खत्म नहीं हुआ है। अब तक जो थोड़ी-बहुत बरसात हुई है उससे हल्की-सी नव अंकुरित घास का स्वाद भेड़-बकरियों के मुंह में जाने लायक हुआ था पर बरसात के अभाव में यह घास भी जलने के कगार पर है। बड़े पशुओं, खासकर गायों के खाने के लायक घास कहीं नहीं है। फिलहाल संकट के बादल आम जन और खेती के साथ-साथ पशुधन पर भी मंडरा रहे हैं। बरसात नहीं होने के कारण इस बार टांकों-नाडियों पुरातन जलक्षोतों में पानी की आवक नहीं के बराबर है।

नतीजतन, पानी की जरूरत के लिए जलदाय विभाग के स्रोतों पर ही सभी की निर्भरता बनी हुई है। हालत यह है कि बरसात के मौसम में भी जलसंकट से जूझ रहे हैं। इस बिगड़ते संतुलन को देखते हुए सरकार और नागरिकों को चाहिए कि वर्षा ऋतु में अधिक से अधिक वृक्षारोपण करें व उनका संरक्षण करें। वर्षा जल के संरक्षण व समुचित संग्रह के लिए आवश्यक कदम उठा कर जल संकट से

पोते-पोतियों के मुकाबले दादा-दादी या नाना-नानी की संख्या ज्यादा हो गई है। संयुक्त राष्ट्र का यह आकलन भी है कि अगर बदलाव की मौजूदा दर जारी रहती है, तो वर्ष 2050 में शून्य से चार साल के हर बच्चे पर दो बुजुर्ग होंगे यानी बुजुर्गों की आबादी बच्चों के मुकाबले दोगुनी होगी।

ये बदलाव दो मुख्य वजहों से हुए हैं। पहली बात यह है कि बढ़ती स्वास्थ्य सुविधाओं से जीवन प्रत्याशा भी बढ़ी है, जिससे बुजुर्ग आबादी में इजाफा हो रहा है। कई विकसित देशों में सेवानिवृत्ति के बाद बुजुर्गों की देखभाल के विशेष सामाजिक सुरक्षा प्रबंध किए गए हैं, जिससे उन्हें जीवन-यापन के लिए किसी पर निर्भर नहीं रहना पड़ता। इस तरह स्वास्थ्य और आर्थिक समस्याओं से चिंतामुक्त जीवन के कारण बुजुर्ग लंबा जीवन जीने लगे हैं। यह एक सार्थक बदलाव है। लेकिन इसके समान्तर दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि कामकाज और नौकरियों के बढ़ते दबाव और तनाव के कारण युवा कम बच्चे पैदा कर रहे हैं। चीन के अलावा यह भले ही किसी देश की घोषित नीति न हो, लेकिन अब ज्यादातर देशों में एकल बच्चे के परिवार का चलन बढ़ रहा है। ऐसा परिवर्तन ब्रिटेन जैसे देश में भी हो रहा है जहां मध्यवर्गीय परिवार संतान के लालन-पालन में लगने वाले संसाधनों के अभाव की वजह से एक से ज्यादा बच्चे को प्राथमिकता नहीं दे रहे हैं। इसके पीछे बच्चों की परवरिश में लगने वाले समय और खर्च की समस्या भी है, जिस कारण युवा दंपति अब ज्यादा बच्चे पैदा नहीं कर रहे हैं। इससे बुजुर्गों और बच्चों के अनुपात में असंतुलन आ रहा है। लेकिन यह असंतुलन असल में एक बड़े खतरे का संकेत भी है। खतरा उल्टे पिरामिड जैसी सामाजिक संरचना वाले देशों की भरमार हो जाने का है, जिसमें बुजुर्ग ज्यादा और बच्चे कम होंगे।

वाशिंगटन यूनिवर्सिटी में जनसांख्यिकी मामलों के विशेषज्ञ क्रिस्टोफर मरे ने एक शोध में बताया है कि जब दुनिया में बच्चे कम और बुजुर्ग ज्यादा होंगे, तो ऐसे वक्त में वैश्विक समाज को बचाए रखना मुश्किल होगा। खास बात यह है कि दुनिया के करीब आधे देशों में अभी ही आबादी के मौजूदा आकार को संरक्षन रखने के लिए पर्याप्त बच्चे नहीं हैं। विश्व बैंक ने भी इस हकीकत को स्वीकार किया है। विश्व बैंक के अनुसार 1960 में दुनिया में महिलाओं की प्रजनन दर पांच बच्चों की थी, जो छह दशक बाद आधे से भी कम यानी 2.4 रह

गई है। साठ के दशक में जहां लोग औसतन बावन साल जीते थे, वहीं मौजूदा दशक में यह औसत बहतर साल हो गया। जापान में तो जीवन प्रत्याशा का औसत बयासी साल है। वर्ष 2018 में जापान की कुल आबादी में पैंसठ साल से ज्यादा के बुजुर्गों का प्रतिशत रत्ताईस, जबकि पांच साल से छोटे बच्चों का प्रतिशत मात्र 3.85 था।

जिन देशों में सामाजिक सुरक्षा की उदारवादी नीतियों के तहत अच्छी स्वास्थ्य सुविधाएं और पेंशन जैसी सुविधाएं हैं, वहां बुजुर्गों की ज्यादा संख्या आबादी के खराब अनुपात के अलावा कई आर्थिक और देश के विकास को प्रभावित करने वाली समस्याएं भी पैदा कर सकती है। असल में समाज में बुद्धों की आबादी बढ़ने का अर्थ है कामकाजी लोगों की संख्या में गिरावट, जिसकी वजह से देश की उत्पादकता कम हो सकती है और विकास प्रभावित हो सकता है। जापान का उदाहरण देते हुए



अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष (आइएमएफ) ने यही चेतावनी दी है कि बुजुर्गों की ज्यादा आबादी से अगले चार दशकों में जापान की अर्थव्यवस्था पच्चीस फीसद तक सिकुड़ सकती है। असल में, बुजुर्गों का उपभोग भी अत्यंत सीमित होता है, वे ज्यादा खरीदारी नहीं करते, इसलिए वे देश के आर्थिक विकास में न्यूनतम योगदान दे पाते हैं। यह आशंका चीन को भी सता रही है, इसलिए उसने एकल बच्चे की नीति वाले जनसंख्या प्रतिबंधों को हटाने की बात कही है। समस्या का एक छोर खुद बुजुर्ग से जुड़ा है जो ज्यादा चिंताजनक है। असल में किसी भी समाज में बुजुर्ग अकेलेपन और असुरक्षा जैसे मुद्दों को लेकर काफी समस्याग्रस्त होते हैं। कई देशों में हुए अध्ययन बताते हैं कि तेजी से बदलते सामाजिक और आर्थिक परिदृश्य में बुजुर्ग सामाजिक और भावनात्मक तौर पर

बरसात का राग

किसान की पीड़ा को उन्होंने अद्भुत अमर स्वर दिए हैं। दिनकर ने तो वर्षा को ऋतुओं की रानी कहा है। केदारनाथ अग्रवाल और नागार्जुन आदि कवियों के यहां भी प्रकृति लुप्त नहीं हुई है, भले ही उसकी व्यंजना और संदर्भ बदल गए हों। लेकिन आज हमारा रिश्ता प्रकृति से लगातार टूटता चला जा रहा है। खासकर उ्तर भारत में ज्यादा उदासीनता दिखती है। घर के आंगन में तुलसी और आंवले जैसे उपयोगी पौधों की कविताएं भी लुप्त-सी हो गई हैं।

न्यायियों का स्थान अब गमलों के स्टैंड ने ले लिया है। अव्वल तो प्लैट संस्कृति ने घरों में सामान के लिए ही जगह नहीं छोड़ी है, उस पर हमारी मानसिकता भी अर्थान्मुख अधिक हो गई है। हम घर की क्यारी तोड़ कर दुकान या एक कमरा बनवाना पसंद करते हैं, लेकिन पेड़ लगाना नहीं। हमारी पाटय-पुस्तकों से प्रकृति प्रेमों की कविताएं भी लुप्त-सी हो गई हैं।

आज पाटयक्रम सरकारों के राजनीतिक एजेंडों की पूर्ति के साधन अधिक हो गए हैं। विद्यार्थियों के व्यक्तित्व के चंद्रमुखी विकास से उनका कोई सरोकार नहीं। नतीजतन, विद्यार्थियों में पेड़-पौधों और जीव जंतुओं के प्रति संवेदनाओं और दायित्वों का अभाव हो गया है जबकि दक्षिण भारत में आज भी प्रकृति लोगों के जीवन का अंग है यही कारण है कि कम तापमान और

उबरा जा सकता है। जरूरत है, समय रहते कदम उठाने व उनके क्रियान्वयन करने की।

- रावत गर्ग ऊपट्टू, राजबेरा, बाइमेर, राजस्थान***

मुफ्त का जाल

दिल्ली में आम आदमी पार्टी की सरकार ने 200 यूनिट तक खपत वाले उपभोक्ताओं के बिजली बिल माफ करने का एलान किया है। विधानसभा चुनाव के पूर्व इस प्रकार की घोषणा मतदाताओं को रिझाने का प्रयास है। वैसे इन दिनों सभी दल मतदाताओं की अपने पाले में खींचने के लिए अपने-अपने तरीके से चुनावों से पहले ‘मुफ्त’ का जाल डालते रहते हैं।

किसी भी मुद्दे या लेख पर अपनी राय हमें भेजें। हमारा पता है : ए-8, सेक्टर-7, नोएडा 201301, जिला : गौतमबुद्धनगर, उत्तर प्रदेश

आप चाहें तो अपनी बात ईमेल के जरिए भी हम तक पहुंचा सकते हैं। आइडी है : chaupal.jansatta@expressindia.com

ऐसी घोषणाएं अनुचित है जो जनता को निकम्मा तो बनाती ही हैं, अर्थव्यवस्था के लिए भी घातक है।

- हेमा हरि उपाध्याय, खावरोद, उज्जैन***

ऐसी खेती

असली भारत गांवों में बसता है और भारत के अन्नदाता किसान भी गांवों में निवास करते हैं। हालांकि जिन्हें देश का अन्नदाता कहा जाता है, उन्हें कभी आराम की जिंदगी नसीब नहीं होती है। आजादी और बंटवारे के बाद देश भूखमरी की मार झेल रहा था। तब कृषि क्षेत्र में हुई हरित क्रांति ने हमें न केवल अन्न उत्पादन में आत्मनिर्भर बनाया बल्कि आज भारत विदेशों को भी अनाज का निर्यात करता है। अब हम पेट भरने की जरूरत के इतर स्वास्थ्य संबंधी क्षेत्रों में देखने को भी तत्पर हुए हैं।

अकेले पढ़ते जा रहे हैं। इस बारे में वर्ष 2017 में एक अध्ययन हुआ था। इसमें दिल्ली और राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र का उदाहरण देते हुए बताया गया था कि इस इलाके में रहने वाले साठ साल से ज्यादा उम्र के लोगों में तिरासी फीसद अकेलेपन के शिकार हैं। अध्ययन में शामिल बुजुर्गों ने माना था कि वे सामाजिक रूप से अलग-थलग और अकेलापन महसूस करते हैं। बताया गया कि वर्ष 2017 में सिर्फ दिल्ली में बारह लाख से ज्यादा (दो करोड़ की आबादी में आठ फीसद) बुजुर्ग थे जो छोटे परिवारों के बढ़ते चलन और तेजी से बदलती परंपरागत सामाजिक मूल्य प्रणाली के कारण काफी उपेक्षा महसूस कर रहे हैं। जीवन की सांझ में इन बुजुर्गों को आर्थिक-सामाजिक सहारा देना तो दूर, उनसे बात करने वाला भी कोई नहीं होता। न तो उनके बच्चों के परिवार उनके लिए समय निकाल पाते हैं और न ही आसपास का समाज उनसे कोई वास्ता रखता है। ऐसे में वे या तो अपराधियों के निशाने पर आ जाते हैं या फिर अपने ही परिवार की उपेक्षा के कारण तन्हा जिंदगी जीते हुए किसी दिन उनकी मौत हो जाती है। दो साल पहले मुंबई के एक उपनगर में एक आलीशान प्लैट में बुजुर्ग महिला की मौत ने इसी सामाजिक समस्या की ओर ध्यान खींचा था। इस महिला का बेटा डेढ़ साल बाद जब अमेरिका से लौटा तो उसे प्लैट के कमरे में एक बेड पर मां का सिर्फ कंकाल मिला था। डेढ़ साल पहले आखिरी वार महिला की बेटे से बात हुई थी।

बदलती सामाजिक व्यवस्था के कारण और घरों के सिकुड़ने से जहां परिवार छोटे हुए हैं, वहीं परिवारों में बुजुर्गों की भूमिका भी कम हुई है। पहले बुजुर्ग परिवार का

महत्वपूर्ण अंग होते थे। नई पीढ़ी उनसे सामाजिक मूल्यों की विरासत का पाठ पढ़ती-सीखती थी। लेकिन अब बच्चे मोबाइल या टीवी में उलझे रहते हैं। उनके पास बुजुर्गों से बात करने का समय नहीं होता। बड़े शहरों में परिवार चलाने के लिए अगर पति-पत्नी दोनों कामकाजी होते हैं, तो घर के बुजुर्गों से बात किए हफ्तों भी बीत जाते हैं।

भारत में आज सबसे बड़ी समस्या बुजुर्गों की सामाजिक-आर्थिक सुरक्षा की है। सरकार सेवानिवृत्ति के बाद पेंशन जैसे विकल्प खत्म करती जा रही है। स्वास्थ्य संबंधी सुविधाओं का जहां तक सवाल है, आयुष्मान भारत जैसी योजनाएं एक खास गरीब तबके तक सीमित हैं। ऐसे में भारत जैसे देश में बुजुर्गों की बढ़ती आबादी और उनकी समस्याएं सरकार के लिए किसी चुनौती से कम नहीं हैं।

पर्याप्त वर्षा आदि पारिस्थितिकी संकटों से उन्हें कम गुजरना पड़ रहा है। पेड़-पौधों से भावनात्मक लगाव रखने वाले आदिवासियों को हमने अंधविश्वासी और पिछड़ा कह कर उनकी जमीन पर अपनी औद्योगिक लिप्साओं के महल खड़े कर दिए। जंगल सिकुड़ रहे हैं और हमारे मन के अंदर का जंगल फल-फूल रहा है। हिंसक प्रवृत्तियां पनप रही हैं और भाई भाई के खून का प्यासा हो रहा है। सावन हमारे अंदर के हरेपन के

जीवित रखने का मौसम है जो न केवल हमें आनंदित करता है, बल्कि हममें एक नई किस्म का

आलोड़न, प्रसन्नता और स्मृति भरता है। मेघों की गर्जना के मिट्टी की उर्वरा शक्ति के विषय में जो भी वैज्ञानिक सत्य हैं, उनके अतिरिक्त सबसे बड़ा सत्य है प्रकृति के नव रूप और नव अभिनंदन का। सावन के साथ हमारी सामूहिकता की भावना और साहचर्य का सुख भी परस्पर जुड़ा हुआ है। साथ-साथ झूला झूलने और कजरी के गीतों को गाने का आनंद ही कुछ और है। लेकिन न आज वैसा कजरी गायन दिखता है, न आल्हा गाने वाले वैसे लोक गायक। झूला अतीत से भविष्य तक की यात्रा का द्योतक ही नहीं, हमारी गतिशीलता का भी परिचायक है।

बरसात के दिनों में बनने वाले पकवान भी ऋतु का

हरित क्रांति ने जहां एक तरफ अन्न भंडार भरे हैं वहीं दूसरी तरफ इसके विरुद्ध भविष्य में गंभीर परिणामों की ओर इशारा करती आवाजें भी उठी हैं। रासायनिक खेती और जीएम फसलों के उपयोग से अज्ञात बीमारियां पैदा होने और देशी फसलों के विलुप्त होने की आशंकाएं प्रकट की गई हैं।

विश्व को एक नई जैविक व प्राकृतिक खेती से परिचय कराने वाले सुभाष पालेकर को पदमश्री पुरस्कार मिल चुका है। लेकिन यहां समस्या दूसरी है क्योंकि किसान आज भी आत्महत्या कर रहे हैं, तो



अवश्य ही कृषि में घाटा हो रहा है। यह घाटा कभी प्राकृतिक आपदाओं की वजह से तो कभी अनाज की उचित कीमत न मिल पाने के कारण होता है। सुभाष पालेकर की शून्य बजट खेती में लागत शून्य होने की बात कही जा रही है पर उसमें पैदावार की कम है और लाभ अनुपात भी कम है। एक तरफ देश में किसान के नाम पर वे लोग हैं जो बड़े स्तर पर व्यापारिक लाभ कमाने के लिए खेती करते हैं तो दूसरी ओर छोटे किसान भी हैं जिन्हें खेती से ही खाना, कमाना और परिवार का पेट पालना है। रसायनों से मुक्त फसलों की चिंता अमीरों के विचार-विमर्श आदि का विषय हो सकता है लेकिन किसान का जीवन भर एक ही प्रयास रहता है- परिवार को सुख चैन